स्पन्दकारिका और योगमार्ग

वस्तु का अन्य वस्तु से एकत्व ही योग है—योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना। 'तन्त्रालोक' (आ० १) में कहा गया है कि योग और क्रिया भिन्न-भिन्न वस्तुयें नहीं हैं; क्योंकि तत्त्व में आरूढ़ होने वाली मति ही अपने चित्त की वासना की शान्ति के कारण 'क्रिया' कहलाने लगती है—

क्रिया सैव च योग: स्यात्तत्त्वानां चिल्लयीकृतौ। (तन्त्रालोक)

१. प्राणापानयोग—स्पन्दकारिकाकार कहते हैं कि 'प्रबुद्ध भूमिका' पर अवस्थित एवं वृत्तिप्रत्यस्तमित (मानसिक एकाग्रता की) भूमि पर आरूढ़ योगी—'यह स्पन्दात्मिकाशक्ति मुझे जिस प्रकार की स्वरूप-विमर्शात्मक अनुभूति करायेगी, मैं उसी पर आरूढ़ रहूँगा'—इस प्रकार सङ्कल्पबद्ध होकर जिस-किसी भी प्रकार की वृत्तिप्रत्यस्तमित अवस्था का आश्रय ग्रहण करके स्थित रहता है, उस योगी की उसी अवस्था का आश्रय लेकर उसके चन्द्रमा और सूर्य (मन एवं प्राण या प्राण तथा अपान वायु) शरीर-व्याप्ति का त्याग करके ऊर्ध्व मार्ग से सुषुम्नाधाम में आरूढ़ होकर उसी में लयीभूत हो जाते हैं।[१]

जहाँ पहुँचकर चन्द्रमा एवं सूर्य दोनों ही लीन हो जाते हैं, उस महान् व्योम में (तुर्यास्वरूपा शाक्त भूमि के असीम व्योम में) प्रबुद्ध योगी की चिन्मात्रानुभूति पर कोई भी आवरण नहीं रहता। इसके विपरीत मूढ़ (सम्यक् अनुभूति-शून्य) योगी, उस अवस्था में भी सुषुप्ति पद के समान प्रगाढ़ अन्धतमस् की दशा में अचेत (विसंज्ञ) पड़ा रहता है।[२]

भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं—जो भी कोई योगी तुर्यास्वरूपा शाक्त भूमिका में अपनी प्रवेशोन्मुखी अवस्था में इस प्रकार दृढ़ सङ्कल्पित होकर कहता है कि—'यत्किंचित् अयं मम वक्ष्यति, तत् अवश्यं करिष्यामि' और स्पन्दतत्त्व में अधिष्ठित रहकर अवस्थित रहता है (स्पन्दतत्त्वात्मक अवस्था का आश्रय लेकर स्थित रहता है), उस योगी की उसी अवस्था के आधार पर उसके चन्द्रमा और सूर्य—दोनों शरीर की व्याप्ति का त्याग करके अर्थात् षाट्कौशिक शरीर में अपने बाह्यमुखी प्रसार का त्याग करके 'मध्यनाडी' (सुषुम्णा मार्ग) में लय हो जाते हैं। जिसमें चन्द्रमा एवं सूर्य दोनों अस्त हो जाते हैं, उस महान् आकाश में (विशुद्ध चिन्मात्र तुर्या भूमि के आकाश में) ऐसा योगी, जिसे कि स्वस्वभाव की पूर्णाभिव्यक्ति भी प्राप्त न हो, सामान्य स्वप्न (स्वप्न एवं सुषुप्ति) के द्वारा तामसिक मूढ़भाव (मोह) में संलीन रहने के कारण अप्रबुद्ध बनकर निरुद्धावस्था में पड़ा रहता है। इसके प्रतिकूल प्रबुद्ध योगी की आत्मचेतना निरावृत रूप में प्रकाशित रहती है। 'सुषुप्ति'

---

१. स्पन्दकारिका

२. यामवस्थां समालम्ब्य यदयं मम वक्ष्यति।
तदवश्यं करिष्येऽहमिति सङ्कल्प्य तिष्ठति॥
तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण सोमसूर्यावुभावपि।
सौषुम्नेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम्॥
तदा तस्मिन् महोव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे।
सौषुप्तपदवन्मूढ: प्रबुद्ध: स्यादनावृत:॥ (स्पन्दकारिका : २३-२५)

पद का अर्थ है—आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी उस अवस्था का बोध न रहना। अप्रबुद्धता निरुद्धावस्था की उस दशा को सूचित करती है, जिसमें साधक में चैतन्यस्वरूप के साक्षात्कार करने के अवसर पर मोहजन्य स्तब्धता आ जाती है।[१]

२३वें सूत्र में 'विशेषस्पन्द' वाच्य बहिर्मुखी चित्तवृत्तियों की निरोध-प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए इन बाह्यमुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाने (चित्तनिरोध करने) से सम्बद्ध 'शाक्तोपाय' का वर्णन किया गया है। स्पन्दात्मिका शाक्त भूमिका पर आरोहण के लिए वृत्तियों पर नियन्त्रण, दृढ़ सङ्कल्प, आत्मबल, अविचल निष्ठा एवं अटल श्रद्धा अपेक्षित है। २४वें सूत्र में कहा गया है कि यौगिक साधना में मन एवं प्राण या प्राणापान को सुषुम्णा मार्ग के चिदाकाश में लयीभूत करना चाहिए।

'सोम-सूर्य' शब्द प्राण एवं अपान, प्रमेय पद एवं प्रमाण पद, शिवकला एवं जीव कला, चन्द्रनाड़ी तथा सूर्यनाड़ी, चन्द्रस्वर एवं सूर्यस्वर आदि अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है और इसके समस्त अर्थ योगपरक हैं। इस प्रसङ्ग में सोम-सूर्य शब्द प्राणापान या मन तथा प्राण का वाचक है—'चन्द्रसूर्यौ अपानः प्राणश्चोभावपि'।

प्राण एवं अपान पञ्च प्राणों में अन्तर्भूत हैं। योगी प्राण के साथ मन का भी लय करता है; अतः इसे मन एवं प्राण का भी वाचक माना जा सकता है। क्षेमराज की दृष्टि में 'चन्द्रसूर्यौ अपानः प्राणश्चोभावपि' कहकर इन्हें प्राणापान का पर्याय ही स्वीकार किया गया है।

२. सुषुम्णा मार्ग—योग के ग्रन्थों में कहा गया है कि ३½ कोटि में से ७२ हजार एवं ७२ हजार में से १४ एवं १४ में से ३ एवं ३ में से एक नाडी श्रेष्ठतमा है और वह है—इड़ा-पिङ्गला के मध्य स्थित 'सुषुम्णानाड़ी'। यही है—'सौषुम्नाध्व'। यह आग्नेय पथ है। यह साधना का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। कुण्डलिनी, प्राण, अपान, मन्त्र एवं जीव इत्यादि सभी इसी मार्ग से होकर ऊपर उठते हुए अकुल धाम (सहस्रार) में पहुँचकर सामरस्य एवं शैवीभाव प्राप्त करते हैं। जीवों के मोक्ष का यही मार्ग है। यह नाड़ी संविद्रूपा है। 'मध्यनाड़ी मध्यसंस्था' (वि०भै०) कहकर ग्रन्थकार ने इसे 'मध्या' भी कहा है।

इसे 'मध्य' क्यों कहा जाता है? क्योंकि यह सभी नाड़ियों के मध्य में है। चूँकि संवित् जड़-चेतन सभी अस्तित्वों के अन्तरतम (मध्य) में स्थित है; अतः सुषुम्णा संविद्रूपा होने के कारण भी मध्य है—

सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात् संविदेव भगवती मध्यम्। (प्र०हृ०)

प्रत्येक प्राणी के शरीर में यह नाड़ी जीवनशक्ति का मूल केन्द्र है।

---

१. यां स्पन्दस्वरूपामवस्थामवलम्ब्य 'यत्किञ्चित् अयं मम वक्ष्यति तत् अवश्यं करिष्यामि' इत्यध्यवसायेन स्पन्दतत्त्वमधिष्ठाय यो वर्तते, तस्य तामवस्थामाश्रित्य पुरुषस्य, सोमसूर्यौ द्वावपि सौषुम्ने अध्वनि मध्यनाड्यभिधाने अस्तमयं कुरुतः ब्रह्माण्डगोचरं शरीरमार्गं परित्यज्य योगिनः तस्मिन् महाव्योम्नि प्रत्यस्तमितशशिभास्करे यस्य स्वस्वभावाभिव्यक्तिः।—स्पन्द-सर्वस्व (भट्टकल्लट)

भगवती संवित् अवरोहण के क्रम में सूक्ष्म प्राण का रूप धारण करके बुद्धि-देह आदि एवं उसमें प्रसृत सहस्रों नाड़ियों का स्वरूप धारण करके स्थित हैं—'सा तु मायादशायां.... प्राणशक्तिभूमिं स्वीकृत्य अवरोहक्रमेण बुद्धिदेहादिभुवम् अधिशयाना नाडीसहस्रसरणिम् अनुसृता' (प्र०हृ०)। इन हजारों नाड़ियों के समूह के मध्य ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधारपर्यन्त प्रसृत यह प्राण शक्तिरूपिणी सुषुम्ना नाड़ी योगियों के लिए वन्दनीया है। यह मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक सतत् सञ्चारशीला है।[१]

उक्त कारिका में 'महाव्योम' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं—'तस्मिन् महाव्योम्नि प्रत्यस्तमितशशिभास्करे यस्य स्वस्वभावाभिव्यक्तिः।' इस सुषुम्णा नाड़ी के मध्य-स्थित शून्याकाश ही महाव्योम एवं (अपरिमित चैतन्य-परिपूरित होने के कारण) चिदाकाश कहलाता है। इसी नाड़ी के माध्यम से शरीर के रोम-रोम में चैतन्य-सञ्चार हुआ करता है। सुषुम्णा के वाम-दक्षिण पार्श्वों में इड़ा एवं पिङ्गला (चन्द्रमा एवं सूर्य) नाड़ियाँ प्राण एवं अपान वायुओं का सञ्चरण करती हैं। योगी प्राणापान को इड़ा-पिङ्गला से छीनकर इन्हें सुषुम्णा में प्रवाहित करता है। इससे बहिर्मुखी चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं—भेदभावना अभेदभावना में लीन होने लगती है और तुर्यारूपात्मिका शाक्त भूमिका का द्वार खुल जाता है।[२]

यह नाड़ी आग्नेयी, सूक्ष्मतमा, मृणालतन्तुतुल्या, चिद्रूपा एवं शून्यस्वरूपा है—'सूक्ष्मत्वात् मृणालसूत्रतुल्यरूपा। मध्यनाड्यामन्तश्चिदात्मकं शून्यमेवास्ति।' (प्र०हृ०)

चिदात्मा परमेश्वर की अविनाशी एवं स्पन्दनसारकर्तृतारूप एक ही निजी ऐश्वर्य शक्ति है। जब वह शक्ति अपने स्वरूप को छिपाकर पशुदशा में प्राण, देह, समान शक्ति की दशाओं (जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति) भूमियों, देह, प्राण एवं पुर्यष्टकात्मक कलाओं द्वारा व्यामोहित करती है तब उसी से उत्पन्न व्यामोहितता ही संसारित्व है और जब वह ऐश्वर्य शक्ति 'मध्यधाम' (सुषुम्ना पथ के उल्लासरूप उदान शक्ति) एवं विश्व-व्याप्ति-सारभूत व्यान शक्ति को उन्मीलित करती है तब देहादि अवस्था में भी पति दशात्मक जीवन्मुक्ति उपलब्ध होती है।[३]

३. समाधियोग—भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं कि समाधि काल में कार्य सिद्ध करने का सामर्थ्य लुप्त हो जाता है। बाह्य इन्द्रियों के विरत हो जाने की दशा में विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य लुप्त हो जाने पर अबुध योगी ऐसा समझ लेता है कि मेरे स्वभाव का ही लोप हो गया है। परन्तु जो भाव हो अर्थात् जिसकी सत्ता त्रिकालाबाधित हो, उसका विनाश कभी नहीं होता।[४]

४. सुप्रबुद्ध योगियों की योगानुभूतियाँ—भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं सुप्रबुद्ध योगी को, विश्व के कण-कण में सर्वत्र अनुस्यूत चिद्रूप स्वभाव की अनुभूति जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओं में, प्रति समय (प्रत्येक दशा या अवस्था) के आदि, मध्य एवं अन्त में

---

१. तत्रापि च पलाशपर्णमध्यशाखान्यायेन आब्रह्मरन्ध्राद् अधोवक्त्रपर्यन्तं प्राणशक्तिमध्यनाडीरूपतया प्राधान्येन स्थिता। (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

४. स्पन्दकारिका-१५

अखण्डरूप में होती रहती है; किन्तु प्रबुद्ध योगी को इन अवस्थाओं में से प्रथम (जाग्रत् अवस्था) के अन्त में (स्वप्न-सुषुप्ति में) तथा इन्हीं दो अवस्थाओं में अन्तर्भूत होने वाली अन्य अवस्थाओं में ही होती है। उसको जाग्रत् एवं तुर्यावस्थाओं में ऐसी अनुभूति केवल सद्गुरु के उपदेश से ही प्राप्त हो सकती है—

तस्योपलब्धि: सततं त्रिपदा व्यभिचारिणी ।
नित्यं स्यात् सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्तेऽपरस्य तु ॥ (स्पन्दकारिका १७)

५. योगी की द्वन्द्वातीता समरसावस्था—भट्टकल्लट कहते हैं कि सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के रूप में प्रवहमान गुणस्पन्दों के अनन्त प्रवाह सामान्य स्पन्द पर ही आधृत हैं। ऐसी स्थिति में वे अजस्र रूप में प्रवहमान होते रहने पर भी उस योगी के प्रतिद्वन्द्वी नहीं बनते हैं; जिसने ज्ञातव्य विषय जान लिया हो। वे उसके चिन्मात्र स्वभाव का आवरण नहीं बन जाते हैं—

गुणविस्पन्दनि:ष्यन्दा: सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
लब्धात्मलाभा: सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिन: ॥ १९ ॥

६. समाधि एवं व्युत्थानावस्था में ऐकात्म्य—भट्टकल्लट कहते हैं कि जो कोई प्रबुद्ध योगी अपने में स्पन्दतत्त्व के स्वरूप की अनुभूति-प्राप्त्यर्थ प्रतिसमय उद्योग करता रहता है, वह जाग्रत् अवस्था में ही अपने भाव (तुर्य चमत्कारमय स्पन्दतत्त्व) की अनुभूति अत्यल्प काल में प्राप्त कर लेता है—

अत: सततमुद्युक्त: स्पन्दतत्त्वविविक्तये ।
जाग्रदेव निजं भावं न चिरेणाधिगच्छति ॥ (स्पन्द० २१)

यथा—धाता अभी देहाभिमान में ही अवस्थित, किन्तु नियमित रूप में योगाभ्यास करने वाले योगी द्वारा (सङ्कल्पात्क) इच्छा के रूप में अभ्यर्थना किये जाने पर, उसके नेत्रों में अत्यन्त तीव्र अवधानात्मक शक्ति का उदय करके उसको जाग्रत् अवस्था में उन्हीं पदार्थों का दर्शन करवाता है, जिनको देखने की इच्छा उसके हृदय में हो। स्वप्नावस्था में भी अवश्य अभिलषित पदार्थों का ही साक्षात्कार करवाता है। इसका कारण यह है कि मध्यधाम (सुषुम्णा) में प्रतिसमय स्फुटतर रूप में प्रकाशमान रहता है और उनके प्रणय का कभी भी अतिक्रमण नहीं करता है।

भट्टकल्लट कहते हैं कि यदि योगी स्वस्वरूप में पूर्णतया अवस्थित रहने में सावधानी न रखे तो उसके लिए स्वप्नावस्था में असङ्गत भावों की ही सृष्टि स्वतन्त्र रूप में चलती रहती है। इसका कारण यह है कि स्पन्द शक्ति प्रसवधर्मा है अर्थात् उत्तरोत्तर भावों की सर्जना करते रहना उसका स्वभाव है। असावधान योगी को जाग्रत्-स्वप्न अवस्थाओं में लौकिक लोगों की भाँति असङ्गत विकल्पों का ही साक्षात्कार होता रहता है।[१]

७. योगसिद्धियों की प्राप्ति—भट्टकल्लट कहते हैं कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति को कोई दूरस्थित पदार्थ सावधानी से देखे जाने पर भी पहले स्पष्टत: परिलक्षित नहीं होता; किन्तु अनन्तर उसी स्थान पर खड़ा रहते हुए ही विशेष प्रयत्न के द्वारा देखे जाने पर

१. स्पन्दसर्वस्व (का० ३३, ३४, ३५)

उनको वही पदार्थ बिल्कुल स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार स्पन्दात्मक स्वरूप में अवस्थित योगी को वैसा ही विशेष प्रकार का प्रयत्न काम में लाने पर थोड़े समय में समस्त पदार्थों के ठीक उसी रूप का बोध हो जाता है, जिस रूप में वे जिस-किसी देश, जिस-किसी काल और जिस-किसी आकार-प्रकार में वर्तमान हों । इसका कारण यही है कि उस योगी के स्वरूप पर से तामसिक आवरण हटा हुआ होता है । फलतः योगियों के लिए अतीत एवं अनागत पदार्थों का ही सही रूप में बोध होना एक छोटी-सी बात है । इसको कोई महान् आश्चर्य समझने की आवश्यकता नहीं है ।[१] ('स्वबल' = स्वस्वरूप) ।

परिपक्व योगी शरीर के अत्यन्त निर्बल होने पर भी स्पन्दात्मक आत्मबल पर आरूढ़ होकर बड़े-बड़े दुष्कर कार्य सहज में ही कर लेता है और अत्यन्त भूखा होने पर अपनी क्षुधा को अभिलषित अवधि तक नियन्त्रण में भी रख लेता है । चेतयिता स्वभाव के द्वारा अधिष्ठित सर्वसामान्य जड़ शरीर में भी सर्वज्ञता आदि धर्म विद्यमान होते हैं, जिनसे वह जड़ शरीर एक छोटी-सी जूँ के दंश को भी तत्काल ही अनुभव कर लेता है । उस स्वरूप में ही अवहित पूर्णतया अधिष्ठित रहने वाले योगी में सार्वत्रिक समस्त भुवनों में समान रूप से कार्यक्षम सर्वज्ञता अवश्य अभिव्यक्त हो जाती है ।

मानसिक एकाग्रता की चरम सीमा पर पहुँचने पर योगी में 'उन्मेष' का उदय होता है—'उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ।'[२] अनवरत अनुशीलन किये जाने वाले 'उन्मेष' के द्वारा योगी में अत्यल्प समय में ही 'बिन्दु' (एक विशेष प्रकार का तेज) नाद (प्रणव/अनाहत ध्वनि) शब्द, रूप (प्रगाढान्धकार में भी पदार्थों को देख सकने की शक्ति) एवं रस (मुख में अमृत का जैसा स्वाद)—इस प्रकार की सिद्धियाँ अभिव्यक्त हो जाती हैं; परन्तु देहाभिमान में ही अवस्थित योगियों को ये क्षोभ में डाल देती है[३]—

अतो बिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः ।
प्रवर्तन्तेऽचिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ॥ (स्पन्दका० ४२)

बिन्दु—(भ्रूमध्यादौ प्रदेशे ध्यानाभ्यासप्रकर्षप्रवर्धमानोत्तरोत्तरप्रसादस्तेजोविशेषो यो बिन्दुभेदाभ्यासाद् धरातत्त्वध्यायिनामभिव्यज्यते । स्प०का० वि० ४.१२) । पृथ्वीतत्त्व के धारणान्यासी योगियों को, एकाग्र ध्यान करने की प्रखरता से भ्रूमध्य स्थान पर एक प्रकार का विशेष और उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ तेज प्रकट हो जाता है, उसे ही 'बिन्दु' कहते हैं ।[४]

नाद—आकाशतत्त्व की धारणा का अभ्यास करने वाले योगी या नादानुसन्धान के अभ्यासी योगी ऐसे अनाहत नाद का श्रवण करते हैं, जो स्वयम्भू है—नित्य है—अखण्ड है—अप्रयत्नज है—नादो वेगवन्नद्यौघनिर्घोषघनोपक्रमः क्रमसूक्ष्मीभावाभिव्यज्यमान-मधुमत्तमधुकरध्वनितानुकारी स्वोच्चरितो ध्वनिविशेषो यं व्योमतत्त्वाभ्यासिनः शृण्वन्ति । (स्प०का०वि० ४.१२)

---

१. भट्टकल्लट : स्पन्दसर्वस्व का० ३६, ३७
२. स्पन्दसर्वस्व (का० ३८-३९)
३. भट्टकल्लट : स्पन्दसर्वस्व
४. इसे ही 'बिन्दुभेद' कहते हैं ।

रूप—तेजस् तत्त्व की धारणा के अभ्यासी योगी प्रगाढ़ान्धकार में वस्तुओं को देख लेते हैं—रूपं सन्तमसाद्यावरणेऽपि सति तत्तददृश्यवस्त्वाकारदर्शनं यत् तेजस्तत्त्वन्यक्षनिक्षिप्तमतयो निरीक्षन्ते ।

रस—जल तत्त्व की धारणा करने वाले या रससंवित् की साधना करने वाले योगियों को पदार्थ के अभाव में भी उसकी स्वादानुभूति होती रहती है—रसवद्वस्तुविरहेऽपि अमृतास्वादो मुखे लोलाग्रलम्बिकादिधारणानिरतैः आतत्वध्यायिभिर्य उपलभ्यते ।

भट्टकल्लट ४३वीं कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जब योगी समस्त भावों में स्वरूपतः व्याप्त होकर अवस्थित रहता है, तब स्वयं ही उस स्वभावभूत स्पन्दतत्त्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ॥ ४३ ॥[1]

'सौषुम्ने ध्वनि' (स्पन्दकारिका २४) कहकर स्पन्दकारिकाकार ने 'स्पन्दशास्त्र' में योग-साधना का प्रतिपादन किया है । 'सुषुम्ना' इड़ा एवं पिङ्गला के मध्य एक नाड़ी है । 'सुषुम्ना' का योगमार्ग में अत्यधिक महत्त्व है । ब्रह्मानन्द जी का कहना है कि क्योंकि कुण्डली-बोध से ही षट्चक्रों का भेदन सम्भव हो पाता है; अतः साधक को चाहिए कि वह अपनी समस्त शक्ति लगाकर सच्चिदानन्द ब्रह्म के द्वार सुषुम्ना के अग्रभाग को (जिसे आच्छादित करके कुण्डलिनी अनादि काल से सो रही है) मुक्त करने का प्रयास करे—'यस्मात् कुण्डलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन सच्चिदानन्दलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुण्डलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं महामुद्रादीनामभ्याससमावृत्तिः समाचरेत् सम्यगाचरेत् ।'[2]

'सुषुम्णा' के अनेक नाम हैं; यथा—शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग आदि—

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः ।
श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥[3]
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥[4]

प्राण की शून्यपदवी (सुषुम्ना) राजपथ (सड़क) के समान हो जाती है और उस समय चित्त भी निरालम्ब हो जाता है (विषयमुक्त हो जाता है) और काल-वञ्चन होने के कारण मृत्यु-भय भी भाग जाता है—

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥[5]

अर्थात् 'सुषुम्णा' प्राणों की यात्रा का 'राजपथ' (सुखपूर्वक, निर्विघ्न एवं आनन्ददायक

---

१. स्पन्दकारिका (४३)
२. ज्योत्स्ना (हठयोगप्रदीपिका की टीका)
३-५. हठयोग प्रदीपिका

मार्ग) है । इसमें प्राण की यात्रा से चित्त निर्विषय हो जाता है और उससे काल पर विजय प्राप्त होती है । 'शिवसंहिता' में इसे ही 'सरस्वती' कहा गया है—

गङ्गायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासान्तु सङ्गमे स्नात्वा धन्यो याति परां गतिम् ॥

इसमें स्नान करने वाला योगी परागति प्राप्त करता है ।[1]

८. योगसाधना—कश्मीरीय शैवदर्शन (त्रिकाम्नाय, त्रिकनय) साधना में साकल्याप्ति हेतु योग-साधना को भी महत्त्व देता है । आचार्य क्षेमराज की दृष्टि में 'मध्य-विकास' (सुषुम्णा नाड़ी, भगवती संवित् की साधना) आवश्यक है; क्योंकि इसी में 'चिदानन्दलाभ' सम्भव है—

क. 'मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः ।' (प्रत्य०सूत्र १७)

प्रथमतः संवित् प्राण शक्ति के रूप में परिणत होती है । फिर अवरोहक्रम से बुद्धि-देहादि भूमियों को ग्रहण करके हजारों नाड़ियों के मार्ग का अनुसरण करती है और वहाँ पलाशपर्णमध्यशाखान्याय से ब्रह्मरन्ध्र से लेकर मूलाधारपर्यन्त 'उदान' नामक प्राण शक्तिरूप ब्रह्म की आश्रयभूत सुषुम्ना नाड़ी के रूप में प्रधानतया स्थित रहती है; क्योंकि वहीं से सम्पूर्ण वृत्तियों का उदय होता है और वहीं लय होता है । यह शक्ति पशुओं में प्रच्छन्न रूप में ही रहती है । जब उक्त योगक्रम से सर्वान्तरतम मध्यभूत भगवती संवित् विकसित होती है या मध्यभूत ब्रह्मनाड़ी विकास प्राप्त करती है, तभी उक्त विकास के द्वारा चिदानन्द प्राप्त होता है और उसी से जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है—

ख. चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः—(प्र०हृ० सूत्र १६) ।

९. मध्य-विकास के उपाय—'मध्यविकास' के उपाय हैं—विकल्पक्षय, शक्तिसङ्कोच और विकास, वाहच्छेद, आदि और अन्त कोटि का परिशीलन । प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध आदि समस्त पीड़ोत्पादक व्यवस्था निरर्थक हैं ।

१. विकल्पक्षय—हृदय में चित्त को स्थापित करके उक्त युक्ति से अपनी स्थिति के प्रतिबन्धक विकल्पों को शान्त करता हुआ योगी अविकल्प दशा प्राप्त करता है । देहादिक कालुष्य से रहित अपनी चित्प्रमातृता के परिशीलन में प्रवीण बनकर वह विकासोन्मेषरूप तुरीय एवं तुरीयातीत दशा प्राप्त कर लेता है । विकल्प के विनाश एवं एकाग्रता के अभ्यास से पारमेश्वरी सृष्टि ईश्वर पद प्राप्त कराती है ।

२. शक्तिसङ्कोच—(शक्तिसङ्कोच प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में स्वीकृत नहीं है, तथापि इसी उपाय से परावस्था प्राप्त हो जाय) । शक्तिसङ्कोच = इन्द्रियों द्वारा बहिर्गत शक्ति को खींचकर अन्तर की ओर उन्मुख करना । यथा—कच्छप भयवश अपने अङ्गों को समेटकर भीतर कर लेता है, उसी प्रकार चारों ओर से निवृत्त हो जाना । निवृत्ति—नित्योदित स्थिति । 'शक्ति विकास' = विना किसी क्रम के समस्त इन्द्रियों को फैलाकर निमेषोन्मेषरहित दृष्टि बाहर रखकर,

---

१. शिवसंहिता (५।१६४)

किन्तु लक्ष्य अन्तरात्मा की ओर रखकर भैरवी मुद्रा में अनुप्रवेश-सी विधि से अन्तर्निगूढ़ शक्ति का बाहर की ओर प्रसार ।

शक्ति का सङ्कोच—भूपृष्ठ में वर्तमान बिन्दु का भेदन करके—अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी एवं समना—इनको क्रमशः पार करती हुई सूक्ष्म प्राण शक्ति जब उन्मना धाम (ऊर्ध्व कुण्डलिनी भूमि) में विश्राम करती है तो इसे प्रसार का सङ्कोच कहा जाता है ।

शक्ति का विकास—यह प्राणशक्ति अभ्यासवश क्रमशः नासाभ्यन्तरचारी बन जाती है, तभी सूक्ष्म बन पाती है । मूलाधार के नीचे मेरुदण्ड से सबसे निचले भाग में त्रिकोणाकार 'अग्निचक्र' है, इसे 'कुलकुण्ड' कहते हैं । यह षष्ठ रूप 'अधःकुण्डलिनी पद' है । यहाँ पूर्वोक्त सूक्ष्म प्राणशक्ति को वश में करके उसके मूल, अग्र एवं मध्यभाग का स्पर्श करना ही शक्ति का विकास है ।

वाहच्छेद = 'वाह' अर्थात् वाम-दक्षिण नाड़ीगत प्राण एवं अपान का विच्छेद—हृदय देश में विश्रान्तिपूर्वक अन्दर ककार-हकारादिरूप, स्वररहित वर्णों के उच्चारण के साथ विच्छेद (वाहच्छेद नामक) उपाय है ।

'आदि कोटि' (हृदय) और 'अन्तकोटि' (द्वादशान्त)—इन दोनों में से क्रमशः प्राणोल्लास और विश्रान्ति के अवसर पर चित्त का निवेशपूर्वक परिशीलन (भी एक उपाय) है ।

चिदानन्द का लाभ ही परमयोगी की समाधि, समावेश एवं समापत्ति है ।

समाधि के संस्कार से सम्पन्न व्युत्थान दशा में बारम्बार चित् के साथ ऐक्य का परिशीलन करने से नित्योदित (एकरस) समाधि का लाभ होता है—

'समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूयश्चिदैक्यामर्शान्नित्योदितसमाधिलाभः ॥ १९ ॥'

चित्प्रमातात्मक स्वस्वरूप में स्थित अनन्य योगी विश्वेशृतात्मक परमानन्द प्राप्त कर लेता है ।

जहाँ-जहाँ (कामिनी, कमल, मिष्ठान्न, सुरस आदि मनोहर वस्तुओं में) मन लगे, वहाँ उसे सुस्थिर करे; किन्तु वहाँ यह भावना भी करता रहे कि—'चिदानन्दात्मक शिव मैं ही हूँ । यह सौन्दर्य मेरी ही भंगिमा है'—तो वहाँ-वहाँ परानन्द स्वरूप प्रकाशित हो जाता है और ये सभी मध्य-विकास के उपाय हैं ।

१०. क्रममुद्रा—अन्तःस्वरूप 'क्रममुद्रा' के द्वारा बहिर्मुख होने पर भी साधक समाधिस्थ ही रहता है । प्रथमतः बाह्य से अन्तः में प्रवेश होता है और बाद में आभ्यन्तर से बाह्य स्वरूप में भी समाधि बल से प्रवेश होता है । यही है—'मुद्राक्रम'; जो बाह्य एवं आभ्यन्तर से युक्त है ।

सृष्टि, स्थिति एवं संहार संवित् समूहरूप क्रम को जो मुद्रित करती है, आत्मसात् करती है, वह तुरीय चिति शक्ति ही 'क्रममुद्रा' है । इस 'पूर्णाहन्ता' स्वरूप 'क्रममुद्रा' के द्वारा विषयों में व्यापृत रहने पर भी जितने पर शक्ति के विकास का साक्षात्कार कर लिया

जाता है, वह परमयोगी हो जाता है और वहाँ वाह्य (अर्थात् निगीर्ण विषय-समूह) से अन्तः परा चिति भूमि में ग्रसनक्रम द्वारा समावेश होता है और आभ्यन्तर साक्षात्कृत चिति शक्ति स्वरूप समावेश के सामर्थ्य से ही, इदन्तात्मक विषयसमूह में वमन की युक्ति से प्रवेश चिद्रस की निबिड़ता का प्रसारस्वरूप समावेश सम्पन्न होता है । सम्पूर्ण विषयसमूह मेरे द्वारा ही उद्गीर्ण है—सूक्ष्म रूप से अन्तःस्थित जगत् जाल बाह्य रूप में प्रकाशित है—यही 'वमनयुक्ति' है । इस प्रकार यह नित्योदित बाह्याभ्यन्तर समावेश हर्ष के वितरण से परमानन्दस्वरूप होने से, पाशों को नष्ट करने तथा विश्व को अन्तः तुरीय सत्ता में मुद्रित करने के कारण मुद्रात्मा और सृष्टि आदि क्रम का आभासक होने के कारण तथा क्रमाभासस्वरूप होने के कारण 'क्रम' कहा जाता है ।

योगमार्ग में सुषुम्ना का प्रधान स्थान है । नित्योदित समाधि उपलब्ध हो जाने के अनन्तर, चिदानन्दघन, समस्त मन्त्रों की प्राणभूता पराभट्टारिका अहन्ता (अकृत्रिम स्वात्मचमत्कार) से योगी तादात्म्य प्राप्त करके उससे अभिन्न हो जाता है और तब उस योगी को कालाग्नि से शान्त्यतीता चरमकलापर्यन्त विश्व के विचित्र सृष्टि और प्रलय करने वाली संवित् शक्तियों का ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है । यदि चिति शक्ति में प्रवेश एवं स्थिरता प्राप्त कर ली जाती है तो परमयोगी को परभैरवरूपता प्राप्त हो जाती है—तत्र ईश्वरता साम्राज्यं परभैरवात्मता तत्प्राप्तिः भवति परमयोगिनः । यथोक्तम्—

यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ ।
नियच्छन्भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥ (स्पन्दकारिका)

'तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारि निजसंविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम् ।' (प्र०हृ०-क्षेमराज २०) ।

'स्पन्दकारिका' में 'सौषुम्नेऽध्वनि' पद का प्रयोग किया गया है । इड़ा-पिङ्गला के मध्य 'सुषुम्णा', सुषुम्णा के मध्य 'वज्रा', वज्रा के मध्य 'चित्रिणी' एवं 'चित्रिणी' के मध्य 'ब्रह्मनाड़ी' है ।

आत्मशक्ति (शिव की वियुक्ता कुण्डलिनी शक्ति) मूलाधार चक्र में सो रही है । उसके जागे विना जीव को न तो ज्ञान प्राप्त हो पायेगा और न ही मुक्ति । कुण्डलिनी का परमशिव से मिलने का यात्रा-पथ ही सुषुम्णा है । इसीलिए नाड़ियों में सुषुम्णा को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है । 'अथ नाड़ीनां दश द्वाराणि । इडापिङ्गला नासाद्वारयोर्वहतः सुषुम्णा नाड़ी तु ब्रह्मदण्डमार्गेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वहति सरस्वती मुखद्वारे वहति ।' अर्थात् शरीर में प्राणवाहिनी दस प्रमुख नाड़ियाँ हैं । नासिका के दोनों रन्ध्र (द्वार) से बायें से 'इडा' एवं दायें से 'पिङ्गला' प्रवाहित होती है । सुषुम्णा नाड़ी ब्रह्मदण्डमार्ग (मेरुदण्ड) से ब्रह्मरन्ध्र तक प्रवाहित होती है और सरस्वती मुखद्वार में प्रवाहित होती है ।[१]

मेरुदण्ड के बाह्य प्रदेश में वाम एवं दक्षिण भाग में क्रमशः 'इड़ा' एवं 'पिङ्गला' नामक दो नाड़ियाँ स्थित हैं । मेरुदण्ड के मध्य में सुषुम्णा नामक नाड़ी स्थित है, जो कि

---

१. गोरक्षनाथ : सिद्धसिद्धान्तपद्धति ।

सतोगुण-रजोगुण एवं तमोगुण से युक्त है और चन्द्र-सूर्य तथा अग्नि के समान प्रखर प्रकाश वाली है। खिले हुए धत्तूर-पुष्प के समान शरीर वाली यह सुषुम्णा नाड़ी नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान कन्द के मध्य से निकल कर मस्तक में स्थित सहस्त्रदल कमलपर्यन्त गयी है। इसके मध्यभाग में देदीप्यमान 'वज्रा' नामक नाड़ी है, जो कि लिङ्गमूल से निकलकर मस्तक तक गई है।

नाड़ी	अधिष्ठाता देवता	स्थिति
१. इड़ा नाड़ी—गङ्गा। चन्द्र नाड़ी	चन्द्रमा	इड़ा नाड़ी मेरुदण्ड के वाम भाग में स्थित है।
२. पिङ्गला नाड़ी—यमुना सूर्य नाड़ी	सूर्य	पिङ्गला नाड़ी मेरुदण्ड के दाहिने भाग में स्थित है।
३. सुषुम्णा नाड़ी— 'कालभोक्त्री'		मेरुदण्ड के मध्यभाग में सुषुम्णा स्थित है।

सुषुम्णा = सत्त्व, रज, तम गुणत्रय से युक्त है। यह सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि के समान स्वरूप वाली है। यह कन्द के मध्य से निकली है। गुदा से दो अङ्गुल ऊपर एवं लिङ्गमूल से दो अङ्गुल नीचे चार अङ्गुल विस्तार में पक्षी के अण्डे के समान नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान नाड़ीकन्द स्थित है। यहीं से ७२ हजार नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं। सुषुम्णा खिले धत्तूर के पुष्प के समान है। यह नाड़ी सहस्त्रार तक गई है। इसके मध्य में वज्रा है और यह लिङ्गमूल से निकली है। यह भी सहस्त्रार तक गई है।

